

नियमसार २५३ कलश। २५३ कलश।

सर्वज्ञ-वीतरागस्य स्व-वशस्यास्य योगिनः।

न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ॥२५३॥

**श्लोकार्थः** आहाहा! सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में... आत्मा के आनन्द के आश्रय से जो योगी है, परमात्मा परमपारिणामिकभाव के आश्रय से योगी है और वे सर्वज्ञ भगवान हैं। **कभी कुछ भी भेद नहीं है;**... इन दोनों में कोई भेद नहीं है। पहले जरा आ गया था। सहज अन्तर है, ऐसा श्लोक आ गया है। यहाँ निकाल दिया है। आहाहा! सर्वज्ञ वीतराग और यह स्ववश योगी। आहाहा! अन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप के वश है। जिसे विकल्प नहीं, वह केवलज्ञानी जैसे ही हैं, ऐसा कहते हैं।

इस योगी में कभी भी... आहाहा! कुछ भी। दो बोल लिये हैं। कभी और कुछ भी भेद नहीं है। आहाहा! धन्य वह मुनिपना! जो अकेले आत्मा के आश्रय से स्ववश पूर्ण होते हैं और सर्वज्ञ भगवान, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! क्योंकि आत्मा पूर्णानन्द प्रभु

परमात्मस्वरूप का पूर्ण अवलम्बन लिया है। परमात्मा सर्वज्ञ ने पूर्ण अवलम्बन लेकर प्राप्त किया है। यह भी प्राप्त करने की तैयारी में है। आहाहा! मुनि उन्हें कहते हैं, जो परम पंचम भाव उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक चार भाव से रहित परमपारिणामिकभाव के अवलम्बन में स्थित है, वह योगी स्ववश है, अपने वश है। आहाहा! वह और सर्वज्ञ भगवान, दोनों में कोई भेद नहीं है, (ऐसा) यहाँ कहते हैं। आहाहा!

**कभी...** आहाहा! विशिष्टता तो क्या कही है? विशिष्टता तो यह है। **कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरे रे!...** आहाहा! वे मुनि हैं, भावलिंगी हैं, सन्त हैं। निर्मानी, इतने निर्मानी कहते हैं **अरे रे! हम जड़ हैं...** आहाहा! उनमें भेद माने, वह जड़ है—ऐसा नहीं कहा। हम जड़ हैं। आहाहा! सर्वज्ञ योगी परमात्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण के वश स्थित हैं। सर्वज्ञ प्रभु तो पूर्ण आत्मा के वश ही हैं और योगी भी स्ववश ही हैं। दया, दान, व्रत के वश योगी नहीं है। वह योगी और मुनि कहलाता नहीं है। वह तो ठीक परन्तु दोनों में कुछ भी भेद नहीं है, यह भी ठीक। परन्तु... आहाहा! निर्मानता गजब बात है।

**अरे रे! हम जड़ हैं...** आहाहा! मुनि स्वयं भावलिंगी स्ववश अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में हैं। एक संज्वलन का कषाय है। बाकी अनुभव में स्थित हैं। वे अपने को ऐसा कहते हैं। दूसरे को कहते हैं परन्तु उसमें अपने को डाला है। नहीं तो हम अथवा दूसरे ऐसा माने यह नहीं लिया। **अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं।** आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग और सन्त किसे कहते हैं? आहाहा! साधु जो आत्मा आनन्द... आनन्द... आनन्द... अतीन्द्रिय ज्ञान, पंचम पारिणामिकभाव में लिपट गये हैं, वश हो गये हैं। आहाहा! ऐसे स्ववश योगी और केवलज्ञानी परमात्मा दोनों में कुछ भी भेद नहीं है।

**अरे रे! हम...** मुनि कहते हैं। गजब बात करते हैं। **अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं।** आहाहा! आहाहा! निर्मानता की हद है। आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का नाश हुआ है, अपने आनन्द का अनुभव है। अतीन्द्रिय आनन्द का (अनुभव है और) तीन कषाय के अभाव से आनन्द है। आहाहा! विकल्प है तो कहते हैं कि अरे रे! जो अन्दर में वश पड़ा है, विकल्प भी जिसे नहीं... आहाहा! ऐसे स्ववश जो मुनि हैं, हम विकल्प में आये... आहाहा! इतना लिखने के विकल्प में आये (तो कहते हैं), अरे रे! हम जड़ हैं। आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ में न रहकर ऐसा लिखने का विकल्प आया, तो वे स्ववश मुनि

जो अन्दर में एकाकार हैं, वे और सर्वज्ञ दोनों एक सरीखे हैं। उनमें अन्तर मानता है तो कहते हैं, हम जड़ हैं। आहाहा! गजब बात है। अरे रे! वापस खेद करके कहते हैं। आहाहा!

हम जड़ हैं... कहने का आशय तो यह है कि हमको यह विकल्प आया है और जो मुनि विकल्परहित अन्तर स्ववश में पड़े हैं... आहाहा! सप्तम गुणस्थान में अन्तर आनन्द में पड़े हैं, जिन्हें शास्त्र की टीका करने का भी विकल्प नहीं... आहाहा! उनमें भेद मानता है, वह जड़ है। आहाहा! इतनी निर्मानता। अभिमानता छोड़कर इतनी निर्मानता है। आहाहा! यहाँ तो जरा मान जाए तो खदबदाहट होती है। आहाहा!

भगवान् ज्ञानस्वरूपी पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु में लिखने का विकल्प (आवे, वह) भी जड़ है। विकल्प जड़ है तो हम भी जड़ हैं, कहते हैं। आहाहा! इतने विकल्प में आये क्यों? यशपालजी! आहाहा! देखो! दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा! गजब! कहीं है नहीं। भरतक्षेत्र में ऐसी बात कहीं है नहीं। आहाहा! यह २५३ (श्लोक पूरा) हुआ।

### श्लोक-२५४

( अनुष्टुप् )

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।

स्ववशः सर्व-कर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः॥२५४॥

( वीरछन्द )

स्ववश महामुनि इस भव में हैं सदा एक ही धन्य अहो।

जो अनन्यमतिवाले रहते हुए कर्म से बाहर हों॥२५४॥

[ श्लोकार्थः ] इस जन्म में स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ ( -निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन न होता हुआ ) सर्व कर्मों से बाहर रहता है॥२५४॥

## श्लोक - २५४ पर प्रवचन

२५४ (श्लोक)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः ।

स्ववशः सर्व-कर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥२५४॥

श्लोकार्थः इस जन्म में... ओहो! इस मनुष्यपने के अवतार में स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है... आहाहा! जिन्हें पंच महाव्रत या लिखने का विकल्प भी नहीं। आहाहा! स्ववश अपने आनन्दस्वरूप में गुप्त हो गये हैं। अतीन्द्रिय आनन्द परम पारिणामिकभाव में लीन हो गये हैं। इस जन्म में स्ववश महामुनि... अपने वश हुए, वे महामुनि। एक ही... आहाहा! वापस एक ही। आहाहा! सदा धन्य है... सदा अन्तर में आनन्द में गुप्त हुए, जिन्हें टीका लिखने का विकल्प नहीं, भगवान के शास्त्र लिखने का भी विकल्प नहीं। आहाहा! ऐसा यह कहते हैं। ऐसे मुनि अन्दर में स्थित हैं। वे महामुनि स्ववश एक ही, वे एक ही। एक ही। एक के एक ही। सदा धन्य हैं। आहाहा!

अब यहाँ क्रमबद्ध और निश्चय की बात करे तब कहे, एकान्त है। क्या करे? प्रभु! उसे सूझ पड़े तदनुसार करे। उसका फल क्या आयेगा? कठिन है, प्रभु! उसे भी विपरीत मान्यता का फल दुःख होगा, वह कोई चाहेगा? किसी प्राणी को दुःख हो, ऐसा चाहे नहीं। सर्व प्राणी सुखी होओ, सब अतीन्द्रिय आनन्द रहो। आहाहा! विपरीत भाव से दुःख होगा, भाई! आहाहा! जन्म-मरण में माता के गर्भ में सवा नौ महीने उल्टे सिर रहना... आहाहा! श्वास किस प्रकार लेना? आहाहा! श्वास तो है। आहाहा! मनुष्यभव में... तिर्यच भव में, नरक भव में, निगोद की तो बात क्या करना? मनुष्यभव में भी जन्म... आहाहा! सवा नौ महीने उल्टे सिर रहना... आहाहा! और जब बाहर निकलना कठिन पड़े, दबाव में से निकलना पड़ेगा। आहाहा! ऐसा मनुष्य का अवतार, उसके वश होना छोड़कर... आहाहा! अपने अतीन्द्रिय आनन्द के वश हो गये हैं। फिर से अवतार लेना नहीं है। आहाहा! महामुनि लिये हैं न?

इस जन्म में स्ववश महामुनि... आहाहा! एक ही सदा धन्य है... अपनी भी भावना भाते हैं कि विकल्प से रहित मैं पूर्ण हो जाऊँ। आहाहा! लिखता हूँ तो अच्छा है, लाभ होगा,

यह कुछ है नहीं। मुझे विकल्प आता है। पहले कलश में आता है कि मेरा मन बारम्बार होता है कि टीका करूँ, इसका रहस्य स्पष्ट करूँ, इसका रहस्य स्पष्ट करूँ, ऐसा विकल्प बारम्बार आता है। यह पहले लिखा है। इसलिए यह बन गया है। पहला है न? पहले श्लोक में है। पहले श्लोक है न। आहाहा!

मुमुक्षु : छठवाँ श्लोक तीसरे पृष्ठ पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : छठवाँ श्लोक। क्या कहा?

मुमुक्षु : तीसरा पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीसरा पृष्ठ। छठवाँ श्लोक। अभी हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से... आहाहा! पुष्ट रुचि से... मुनि हैं। आहाहा! पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित हो रहा है। मैं इसे बनाऊँ, मैं इसे बनाऊँ, ऐसा विकल्प बारम्बार आता है। विकल्प नाश नहीं होता। आहाहा! विकल्प से प्रेरित होने के कारण, आहाहा! उस रुचि से प्रेरित होने के कारण... देखा! आहाहा! 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है। आहाहा! मन में विकल्प आया करता है कि इसकी टीका होवे। टीका, वह टीका है। आहाहा! समयसार की टीका से भी कितनी ही बार तो उच्च श्रेणी की बात की है। ओहोहो! देखो न! यहाँ भी कहा, आहाहा!

एक ही सदा धन्य है... आहाहा! इस जन्म में स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है... एक ही सदा धन्य है। आहाहा! कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ... अनन्य अर्थात् अन्य में बुद्धि नहीं जाकर अपनी अनन्य बुद्धि के आनन्द की बुद्धि में रहनेवाला। ( -निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन न होता हुआ ) सर्व कर्मों से बाहर रहता है। आहाहा! सर्व विकल्परूपी कार्य-सर्व विकल्परूपी कर्म-उनसे बाहर रहता है। आहाहा! अभी (ऐसा कहते हैं), विकल्प से करो, उसके व्यापार से, महाव्रत से कल्याण होगा। अरे! प्रभु! क्या हो? तेरे लाभ का कारण है न, प्रभु! लाभ का काम तो सत्य से होगा या असत्य से होगा? आहाहा!

इस क्रमबद्ध का बहुत विरोध हुआ। जिसमें पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध में स्व-सन्मुख का पुरुषार्थ है, क्योंकि पर्याय का निर्णय करने में पर्याय पर लक्ष्य नहीं करने से होता है।

पर्याय का निर्णय करने में द्रव्य पर जब लक्ष्य होता है, तब द्रव्य का ज्ञान होता है, तब पर्याय का निर्णय यथार्थ होता है, यही पुरुषार्थ है। आहाहा! परन्तु (अभी ऐसा कहते हैं) क्रमबद्ध जिस समय होगा, उस समय होगा, यह तो नियति हुई। अरे! प्रभु! नियति के साथ पाँच समवाय साथ में है। उसमें पुरुषार्थ की मुख्यता है। आहाहा! अपनी पर्याय को अपनी ओर झुकाना, झुकाव करना, प्रभु! यह कहीं अल्प पुरुषार्थ है? आहाहा! इस पुरुषार्थ को पुरुषार्थ गिनते नहीं और पर्याय उल्टी-सीधी, आगे-पीछे करना और ऐसा करना और वैसा करना, (उसे पुरुषार्थ मानते हैं)। आहाहा!

जिस समय में जो पर्याय होनी है, उस समय में वह पर्याय होगी। ऐसा जब निर्णय होता है, तब द्रव्य का पुरुषार्थ होता है, ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ होता है। आहाहा! बात कठिन पड़ी, परन्तु क्या करे? क्रमबद्ध को नियत करके (निकाल डाला)। परन्तु शास्त्र देखते नहीं कि शास्त्र में क्रमबद्ध लिखा है।

समयसार ३०८ गाथा में क्रमनियमित (शब्द है)। आहाहा! क्रम और नियमित जिस समय होनी हो, उस समय होगी। वह नियमित है। आहाहा! क्रम निश्चित-क्रम निश्चित। आहाहा! परन्तु उसका पुरुषार्थ करने में द्रव्य की ओर जाना, तब क्रमनियमित का, पर्याय का... द्रव्य का निर्णय होने पर पर्याय का निर्णय होता है, वही पुरुषार्थ है। आहाहा! क्रमबद्ध की बात नहीं थी। नयी लगी। परन्तु पाठ में तो है। यह कहीं नया समयसार है? समयसार में क्रमनियमित पाठ है। प्रत्येक द्रव्य की क्रमनियमित (पर्याय) होती है। आहाहा! आगे-पीछे करने में जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है—ऐसा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है। जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। परन्तु इसमें ही पुरुषार्थ आया। आहाहा!

स्व-सन्मुख होते ही क्रमबद्ध का निर्णय होता है, वही पुरुषार्थ है। इसमें पाँचों ही समवाय आ गये और उसके भव का नाश हो गया। आहाहा! और मोक्ष की शुरुआत हो गयी। आहाहा! अब इसे एकान्त मानते हैं। अरे! प्रभु! क्या करता है? ऐसी बुद्धि कैसे सूझती है। यहाँ तो इनकार करते हैं। आहाहा!

मुनि तो अन्तर में लीन होते हैं। आहाहा! यह टीका करने का विकल्प भी हम जड़ है। आहाहा! गजब है। समाधिगतक में भी कहा है। हम जो यह बोलते हैं, उसमें विकल्प है, वह पागल जैसा है। ऐसा लिखा है। मुनि। हम समझाते हैं, उसमें विकल्प आता है, वह

पागल है। क्योंकि विकल्प से कोई उसे ज्ञान नहीं होता तथा विकल्प से मुझे लाभ नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? सुननेवाले को भी विकल्प से ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

**मुमुक्षु** : स्वयं के पुरुषार्थ से होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** : यह उसके पुरुषार्थ से होता है और कहनेवाले को विकल्प से लाभ नहीं होता। विकल्प तो राग है। ऐसा समाधिशतक में कहा है कि उपदेश देनेवाला पागल है। आहाहा! यह दिगम्बर सन्त कहते हैं। जिन्हें जगत की पड़ी नहीं है, जगत की दरकार नहीं है, जगत मानेगा या नहीं मानेगा, सुगठित रहेगा या नहीं रहेगा, इसकी कुछ दरकार नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं...

**मुमुक्षु** : सुननेवाले को तो देशनालब्धि का लाभ होता है न?

**पूज्य गुरुदेवश्री** : वह इससे अन्तर में नहीं जाता। अन्तर में देशनालब्धि का ज्ञान काम नहीं करता।

**मुमुक्षु** : ऐसी प्रतीति होती है कि पर से लाभ होगा, इसलिए पर में भटकता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** : पर से लाभ होता ही नहीं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी निकलती है, तो उससे भी आत्मा को लाभ नहीं है। भगवान तो यहाँ तक कहते हैं कि परमात्मा त्रिलोकनाथ समयसार की २१वीं गाथा में (ऐसा कहते हैं) कि प्रभु! हम तेरी अपेक्षा से इन्द्रिय हैं। हमारे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे दुर्गति—राग होगा। आहाहा! इन्द्रियों को जीतना, तब होगा कि राग को, जड़ इन्द्रिय को, भावेन्द्रिय को, इन्द्रिय के जितने विषय हैं—महावीर तीर्थकर, सर्वज्ञ की वाणी आदि सबका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में जाना, वह इन्द्रिय का जीतना है। आहाहा! ऐसी वाणी दिगम्बर मुनि के अतिरिक्त कहीं नहीं है, कहीं नहीं है। आहाहा! गजब बात करते हैं न! आहाहा!

इन्द्रिय। 'जो इंदिये जिणित्ता' (समयसार गाथा ३१)। जो कोई इन्द्रियों को जीतकर। इसके अर्थ में ऐसा लिया है कि इन्द्रिय का अर्थ क्या? कि जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय (अर्थात्) एक इन्द्रिय एक विषय करे वह और इन्द्रिय का विषय—भगवान तीर्थकर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, भगवान की वाणी सब इन्द्रिय का विषय है। आहाहा! इन्द्रिय के विषय को इन्द्रिय कहा, तो इन्द्रिय को जीतना। उनके ऊपर का लक्ष्य छोड़ना

और अतीन्द्रिय में आना, वह लाभ का कारण है। यशपालजी ! इसमें यशपाल है। इसमें यश निकलता है। आहाहा ! बाकी अपयश है। आहाहा ! दुनिया में भटकना... आहाहा !

देखो न ! वे आये हैं बेचारे। आठ वर्ष की लड़की ऊपर से गिरकर मर गयी। ऊपर से गिरकर। आहाहा ! ऐसे मरण अनन्त बार किये हैं। इस जीव ने अनन्त बार ऐसे मरण किये हैं। उसने किये, यह बात नहीं। अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... आहाहा ! जिसकी आदि नहीं - शुरुआत नहीं, उसका माप क्या ? उसकी मर्यादा क्या ? उसका अनन्त का अन्त क्या ? उसके अनन्त का अन्त क्या ? आहाहा ! है... है अनादि काल से, भ्रमणा करता है तो उसमें अनन्त भव ऐसे आये हैं कि अनन्त बार घानी पिला और छुरे द्वारा अनन्त बार कटा। शिकारी... आहाहा ! माँस बेचनेवाले। कसाई-कसाई। कसाई... कसाई के हाथ से जीवित मनुष्य मिले तो उसके टुकड़े करे, ऐसा अनन्त बार हुआ है, प्रभु ! आहा ! अनन्त बार... अनन्त बार... अनन्त काल में सब हो गया है। आहाहा ! किसका अभिमान करना ? आहाहा !

यहाँ कहते हैं, इस जन्म में... आहाहा ! स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है... आहाहा ! कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ... अपने स्वभाव की ओर से निकलकर दूसरे में नहीं जाता। अनन्य बुद्धि, अपने में बुद्धि रखता है, वह यश है, वह धन्य है। वह सर्व कर्म से बाहर रहता है। आहाहा ! सुनना कठिन पड़े। १४६ हुई।



## गाथा-१४७

आवासं जह इच्छसि अप्सहावेसु कुणदि थिरभावं ।  
 तेण दु सामण्ण-गुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥  
 आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम् ।  
 तेन तु सामायिक-गुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥१४७॥

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत् । इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपञ्च-  
 कल्लोलिनीकलकलध्वनिश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वा-  
 त्माश्रयावश्यकं सन्सारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरञ्जन-  
 निजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिरभावं  
 करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं  
 जातं, अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्धिका-  
 सम्भोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः ह

( मालिनी )

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,  
 भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्गः ।  
 तदनवरत-मन्त-मग्न-सम्बिग्न-चित्तो,  
 भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥

तथाहि ह

आवश्य का कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मा में करे ।  
 होता इसी से जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे ॥१४७॥

अन्वयार्थः : [ यदि ] यदि तू [ आवश्यकम् इच्छसि ] आवश्यक को चाहता है  
 तो तू [ आत्मस्वभावेषु ] आत्मस्वभावों में [ स्थिरभावम् ] स्थिर भाव [ करोषि ]

करता है; [ तेन तु ] उससे [ जीवस्य ] जीव को [ सामायिकगुणं ] सामायिकगुण [ सम्पूर्णं भवति ] सम्पूर्ण होता है।

टीका : यह, शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय, उसके स्वरूप का कथन है।

बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल के श्रवण से ( -व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से ) पराङ्मुख हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को—कि जो संसाररूपी लता के मूल को छेदने का कुठार है उसे—यदि तू चाहता है तो तू समस्त विकल्पजाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में—सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र और सहज सुख आदि में—सतत-निश्चल स्थिरभाव करता है; उस हेतु से ( अर्थात् उस कारण द्वारा ) निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यकक्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ ? \*अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है। इसलिए अपुनर्भवरूपी ( मुक्तिरूपी ) स्त्री के सम्भोग और हास्य प्राप्त करने में प्रवीण ऐसे निष्क्रिय परम-आवश्यक से जीव को सामायिकचारित्र सम्पूर्ण होता है।

इसी प्रकार ( आचार्यवर ) श्री योगीन्द्रदेव ने ( अमृताशीति में ६४वें श्लोक द्वारा ) कहा है कि:—

( वीरछन्द )

किसी तरह यदि निज स्वरूप से मन विचलित हो जाता है।  
निज से बाहर भटके तो सब दोष प्रसंग आ जाता है॥  
इसीलिए तू अन्तर्मग्न सतत संवेगी मनयुत हो।  
जिससे मोक्षपुरी के शाश्वत् गृह का तू फिर अधिपति हो॥

[ श्लोकार्थः ] यदि किसी प्रकार मन निज स्वरूप से चलित हो और उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोष का प्रसंग आता है, इसलिए तू सतत अन्तर्मग्न और संविग्न चित्तवाला हो कि जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा।

\* अनुपादेय=हेय; पसन्द न करनेयोग्य; प्रशंसा न करनेयोग्य।

१. संविग्न=संवेगी; वैरागी; विरक्त।

१४७ (गाथा)

आवासं जह इच्छसि अप्सहावेसु कुणदि थिरभावं ।  
 तेण दु सामण्ण-गुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥  
 आवश्यक का कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मा में करे ।  
 होता इसी से जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे ॥१४७॥

आहाहा! यहाँ सामायिक कहा, देखा? सामायिक गुण सम्पूर्ण।

टीका : यह, शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय... शुद्धनिश्चय आवश्यक। व्यवहार आवश्यक तो राग का कारण है, बन्ध का कारण है। आहाहा! व्यवहार सामायिक, चौविसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण सब राग तो बन्ध का कारण है। आहाहा! अब इसे निश्चय कहकर एकान्त कहते हैं। व्यवहार से भी लाभ होता है। उसने विपरीत अर्थ किये हैं न? इनने तो कलश-प्रमाण अर्थ किये हैं, इसलिए इनने लिखा है, उसमें तो व्यवहार का निषेध किया है। ऐसा अर्थ नहीं है। ऐसा अर्थ है। आहाहा! पण्डित-पण्डित.. धर्मचन्द है कोई शास्त्री। संघस्थ-कोई साधु का संघ है, उसमें रहता होगा। आहाहा! ऐसा कहता है कि तुम ऐसा मानते हो, वह बात नहीं है। व्यवहार का अर्थ तुम तो ऐसा करते हो कि यह निषेध करना, (परन्तु) ऐसी बात नहीं है। ऐसी बात नहीं है वहाँ। उसका अर्थ यह नहीं है, ऐसा कहता है। व्यवहार से भी लाभ होता है। अरे रे! अब क्या करे? अरे! मनुष्यपना आया, दिगम्बर में जन्म हुआ, दिगम्बर साधु के साथ रहा। संघस्थ लिखा है अर्थात् दिगम्बर साधु के साथ कोई संघ में होगा। आहाहा! उसने यह सब अर्थ ऐसे किये हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय उसके स्वरूप का कथन है। व्यवहार आवश्यक का कथन यहाँ नहीं। आहाहा! शुद्धस्वरूप का, शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय है, उसके स्वरूप का कथन है।

टीका : बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल के श्रवण से (-व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से)

**पराङ्मुख...** आहाहा! व्यवहार जो षट् आवश्यक के विकल्प आते हैं-सामायिक, चौविसंथो, वन्दन आदि; उनसे पराङ्मुख हो जा। वह तो कोलाहल है। व्यवहार आवश्यक तो कोलाहल है। विकल्प का, राग का कोलाहल है। दुःख का कोलाहल है। राग कहो या दुःख कहो। आहाहा! है ?

**बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी...** षट् आवश्यक प्रपंच है। आहाहा! मुनि को दरकार नहीं है कि ऐसे शब्द लिखे हैं तो दुनिया क्या अर्थ करेगी। दुनिया, दुनिया की जाने। विकल्प आया है तो टीका होती है-हो जाती है। यह टीका तो शब्दों से होती है। विकल्प आया, इसलिए टीका हुई - ऐसा नहीं है। यह टीका तो शब्दों से उस समय होनेवाली थी तो हुई है। यह विकल्प से नहीं हुई। आहाहा! ऐसी बात! यहाँ तो बाह्य षटकारक, सामायिक, चौविसंथो, भगवान की स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग, सामायिक, वन्दना, पडिक्कमण / प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, ध्यान, सब विनय, बारह (प्रकार का) विनय, देव-गुरु-शास्त्र का विनय... आहाहा! यह षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल... आहाहा! है न ?

ऐसा आचार्य पुकार करके करके कहते हैं। दिगम्बर सन्त पुकार कर कहते हैं। आहाहा! उन्हें जगत की कुछ पड़ी नहीं है। एक जगह आता है कि समाज सुगठित रहेगी या नहीं, इसकी दरकार नहीं है। सत्य प्रसिद्ध करते हैं। दिगम्बर सन्त सत्य की पुकार करते हैं। सत्य यह है। बाकी षट् आवश्यक भी असत्य है। आहाहा! बाह्य सामायिक, आत्मज्ञान से रहित सामायिक, प्रौषध, भगवान की स्तुति, वन्दन सब कोलाहल है। नदी का कोलाहल होता है। कलकलाहट-नदी में जैसे कल... कल... कल... (होता है), वैसे विकल्प की, राग की कलकलाहट है। आहाहा! ऐसी बात सुनी भी न हो, ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

प्रभु! तू विराजता है न! तेरी सत्ता पूर्ण है। पूर्ण सत्ता में कोई पर की अपेक्षा नहीं है न। ऐसा निरपेक्ष पंचम पारिणामिक ज्ञायकभाव के आश्रय से छह आवश्यक के कोलाहल को छोड़ दे। आहाहा! छह आवश्यक नदी का कोलाहल। नदी में जैसे कोलाहल होता है न ? खलबलाहट-खलबलाहट बहुत पानी आवे तब होती है। आहाहा! नदी के कोलाहल के श्रवण से.... आहाहा! उन वचनों के श्रवण से ( -व्यवहार छह आवश्यक के

विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से )... आहाहा! विकल्प उठता है और तू सुनता है। आहाहा! पराङ्मुख... है। निश्चय आवश्यक तो व्यवहार आवश्यक से पराङ्मुख है। उसमें लिखा है कि व्यवहार से निश्चय विरुद्ध नहीं। विरुद्ध अर्थ लिखा, वह झूठा है। किसी समय विरुद्ध अर्थ लिखा है। भाई ने-जगमोहनलालजी ने। एक जगह भूल की है। व्यवहार से निश्चय होता है, शुभभाव से। खोटी-झूठ बात है। शुभभाव से निश्चय होता ही नहीं। शुभभाव कोलाहल है, राग है। आहाहा!

अब छह आवश्यक का विकल्प भी कोलाहल, प्रपंच... आहाहा! राग, दुःख-उस जाल में से निकलकर, प्रभु! निश्चय में आ जा। आहाहा! अभी तो सुनने को मिला न हो, वह कब करे? आहाहा! व्यवहार और निश्चय दो है या नहीं? दो है तो दोनों लाभ का कारण है या नहीं? प्रभु! दोनों लाभ का कारण होवे तो दो होते ही नहीं। तो दो क्यों पड़े? एक ही नाम नहीं पड़े। निश्चय और व्यवहार दो पड़े हैं तो विरुद्ध हैं तो विरुद्ध पड़े। यदि एक होवे तो उससे भी लाभ हो और इससे भी लाभ हो, तो निश्चय-व्यवहार दो भाग ही न पड़ें। आहाहा! न्याय से भी अभी बात स्वीकार में नहीं आती तो परिणमन में कहाँ से आवे? आहाहा! अन्तर का परिणमन कहाँ से हो? और इसके बिना संसार का अन्त कभी नहीं होता, प्रभु! आहाहा! यह देह तो छूट जाएगी और कहीं आवास करेगा। अन्तर का भान नहीं तो चौरासी के अवतार में कहाँ निवास होगा? आहाहा! कोई साथ में नहीं आयेगा। आहाहा! यह विकल्प भी साथ में नहीं आयेगा। विकल्प से कर्मबन्धन होता है, वह कर्म साथ में आता है। जो विकल्प आया था, वह तो गया। उससे जो स्वतन्त्र बन्ध हुआ, तो वह कर्म अपनी पर्याय की योग्यता से साथ में आता है। आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! आत्मा भी ऐसे जाता है तो कर्म भी अपनी पर्याय की योग्यता से स्वयं के कारण से साथ में आता है। आहाहा!

ऐसा कोलाहल। आवश्यक के विस्ताररूपी ( -व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से ) पराङ्मुख हे शिष्य!... आहाहा! पराङ्मुख हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को—कर। आहाहा! शुद्ध धर्मध्यान और शुक्लध्यान। निश्चय स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य राग से रहित, भेद से रहित, अभेद चीज़ जो है, उसके आश्रय से

ही निश्चय आवश्यक होता है। आहाहा! अब इसमें समय कब मिले? सुमनभाई! नौकरी करना पूरे दिन स्त्री, पुत्र सम्हालना। लड़कियों का विवाह करना, अच्छी जगह डालना। फिर भले वैष्णव में डाले परन्तु कहीं ठिकाने लगाकर... आहाहा! अरे रे! अरे! जन्म, अरे! जन्म मनुष्य... आहाहा!

इस मनुष्य जन्म में क्या करना? कि यह एक करना है। छह आवश्यक के विकल्प से रहित निश्चय आवश्यक करना है। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात जैन के अतिरिक्त तो कहीं है नहीं। जैन में भी दिगम्बर जैन के अतिरिक्त कहीं नहीं है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी में यह बात नहीं है, प्रभु! दुःख लगे तो माफ करना। हम स्थानकवासी हैं और हम मन्दिरमार्गी हैं। हमें मिथ्या सिद्ध करते हैं। आचार्य (कल्प पण्डित टोडरमलजी ने) तो मोक्षमार्गप्रकाशक में सिद्ध किया है। श्वेताम्बर-स्थानकवासी जैन नहीं, अन्यमत है। वह जैन ही नहीं। आहाहा! इन्होंने बहुत गड़बड़ कर डाली है। देव-गुरु-शास्त्र की, धर्म की बहुत गड़बड़ कर डाली है। आहाहा! दिगम्बर में आवे तो भी वापस गड़बड़ करे। (दिगम्बर में) जन्मे तो क्या हुआ? आहाहा!

**मुमुक्षु :** दिगम्बर में भी केवल यहाँ ही है, अन्यत्र कहीं नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दिगम्बर धर्म, दिगम्बर धर्म अर्थात् जैनधर्म, जैनधर्म अर्थात् वास्तविक वस्तु का स्वरूप। वह कोई पक्षपात नहीं। आहाहा! वह तो वस्तु का जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय है और जैसा स्वतन्त्र है, वैसा जाना, वैसा भगवान ने कहा। वह कोई पक्ष या वाड़ा नहीं है। अरे रे! क्या करें? सत्य कहते हैं तो तूफान करते हैं। नहीं, यह एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... यह मिथ्यात्व है। अच्छा, भाई! प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं... आहाहा! हे शिष्य! गुरु कहते हैं, देखो! हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान... अपना आत्मा आनन्दस्वरूप का ध्यान और शुक्लध्यान निर्विकल्प विशेष। अभी धर्मध्यान में अबुद्धिपूर्वक का विकल्प होता है। वह तो बन्ध का कारण है परन्तु अन्तर में जितना आश्रय हुआ, उतना धर्मध्यान है और शुक्लध्यान में तो विकल्प भी नहीं है। वह विकल्परहित शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को— आहाहा! स्व-आत्मा के आश्रित। इन छह आवश्यक के विकल्प स्व-आत्मा नहीं है, वे तो अनात्मा है। आहाहा! छह व्यवहार आवश्यक जो सामायिक, चौविसंथों, बन्धन, प्रभु

की भक्ति, पूजा, वह सब अनात्मा है। आहाहा! गजब बात है। कठिन है, प्रभु! बात तो ऐसी है, प्रभु! तुझे रुचे, न रुचे... आहाहा! वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है। आहाहा!

**स्वात्माश्रित...** आहाहा! यह सिद्धान्त है। **स्वात्माश्रित आवश्यक...** छह आवश्यक व्यवहार, वह पर आत्मा आश्रित है। विकल्प पराश्रित राग है। आहाहा! वास्तव में तो वह छह आवश्यक पुद्गल हैं। आहाहा! आत्मा नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरपूर है न, प्रभु! अतीन्द्रिय वीतराग की मूर्ति है न, नाथ! उसके अवलम्बन से जो आवश्यक होता है, वह स्वाश्रित आवश्यक है। आहाहा! सुना न हो कभी। बाहर में यह करो... यह करो... यह करो... आहाहा! **स्वात्माश्रित...** स्व आत्मा में परमात्मा भी नहीं। तीर्थकर भी पर आत्मा है। उनके आश्रय से भी विकल्प-राग होता है। आहाहा!

आहाहा! अरे! टाइम जाता है, समय चला जाता है। मृत्यु के नजदीक (जाता है)। आहाहा! किस समय किस प्रकार से देह छूटना है, उस प्रकार से देह छूटेगी। उसमें लाख उपाय अन्दर के करे और इंजेक्शन लगावे और डॉक्टर का बुलावे तथा इंजेक्शन लगावे तो भी धूल भी नहीं रहेगी। आहाहा! जिस समय में देह छूटना है, वह छूटेगी.. छूटेगी और छूटेगी। आहाहा! वह डॉक्टर की दवा स्पर्श नहीं करती, इंजेक्शन शरीर को स्पर्श नहीं करता। शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता, तेरा इंजेक्शन क्या काम करेगा? आहाहा! सुमनभाई! इंजेक्शन शरीर को स्पर्श नहीं करता। शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता। तेरा इंजेक्शन क्या करेगा? आहाहा! इन भाई को इंजेक्शन दिया था न यहाँ, अभी पाँच-छह दिन पहले, गुजर गये न भाईलालभाई! आयी थी माधुरीबहिन, डॉक्टर बहिन है न? वह बहिन आयी थी। छह इंजेक्शन दिये, बेचारी मेहनत बहुत करती थी, ऐसे घिसने की परन्तु शरीर बड़ा लट्टु जैसा। उड़ गया यहाँ। आहाहा! उड़ गया क्या? उड़ा हुआ ही था। क्षेत्रभेद हो गया, इसलिए बाहर ऐसा लगता है। बाकी यहाँ भी क्षेत्र भेद है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उस क्षेत्र में शरीर नहीं, शरीर में आत्मा नहीं। आहाहा! आत्मा और शरीर का क्षेत्र दोनों भिन्न हैं। आहाहा!

**स्वात्माश्रित आवश्यक को—कि जो संसाररूपी लता के मूल को छेदने का कुठार है...** स्व आत्मा के आश्रय से होनेवाली क्रिया, निर्विकल्प आनन्द की, शान्ति की, वीतराग की क्रिया, संसाररूपी बेल-संसाररूपी लता / भव के मूल को छेदने का कुठार

है। उसके मूल को छेदने का कुठार है। आहाहा! यह शुद्धनिश्चय आवश्यक। संसाररूपी लता / बेल, विकल्प को मूल से छेदने में समर्थ है। आहाहा! उसे यदि तू चाहता है... आहाहा! उसे यदि तू चाहता है तो तू समस्त विकल्प जाल रहित... आहाहा! समस्त विकल्प जाल रहित। भगवान कहते हैं या गुरु कहते हैं कि मेरा भी विकल्प छोड़ दे। आहाहा! मेरे ऊपर नजर करेगा तो प्रभु! तुझे विकल्प होगा। तेरी प्रभुता का पता नहीं मिलेगा। आहाहा! तेरी प्रभुता का पता तो तेरी प्रभुता के स्वभाव से मिलेगा। आहाहा! ऐसी बात!

**समस्त विकल्प जाल रहित...** समस्त में कोई विकल्प बाकी नहीं कि मैं गुणी हूँ और यह ज्ञानगुण है, ऐसा भी जहाँ विकल्प नहीं। गुण-गुणी का भी जहाँ विकल्प नहीं। आहाहा! **समस्त विकल्प जाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में**—आहाहा! जिसमें निरंजन अर्थात् मलरहित निज परमात्मा-निज परमात्मा... आहाहा! जहाँ हो, वहाँ वाणी यह डाली है। निज परमात्मा; भगवान नहीं, पर परमात्मा नहीं। आहाहा! पर परमात्मा के ऊपर लक्ष्य जाएगा तो प्रभु! तुझे राग होगा। आहाहा! ऐसी बात है। व्यवहार की रुचिवाले को कठिन लगे कि यह तो बस निश्चय.. निश्चय.. निश्चय.. एक ही निश्चय। अर्थात् क्या? सत्य.. सत्य.. सत्य.. बात करते हैं। असत्य बात नहीं करते। व्यवहार असत्य है। आहाहा!

**मुमुक्षु** : व्यवहार अपने आप छूट जाता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** : व्यवहार तो राग है, वह अपने आप छूट जाता है, ऐसी दृष्टि / श्रद्धा तो पहले करे। बात ध्यान में, लक्ष्य में तो ले कि ऐसी चीज़ है। आहाहा!

**निरंजन निज परमात्मा के भावों में**—आहाहा! **यदि तू चाहता है तो तू समस्त विकल्प जाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में**—निज परमात्मा के भावों में, देखा? आहाहा! वह है तो अभेद, हों! परमात्मा के भावों में भेद नहीं है। परमात्मा के भाव में। अन्दर आनन्द, ज्ञान, दर्शन आदि भाव पड़ा है। आहाहा! **परमात्मा के भावों में**—अन्दर परमात्मा का कैसा भाव है? परमात्मा, निज परमात्मा। **सहज ज्ञान, सहज दर्शन,...** स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप ही है। उसकी उत्पत्ति नहीं, उसकी हानि-वृद्धि नहीं, उसका नाश नहीं, एकरूप रहनेवाला ज्ञान त्रिकाल सहजज्ञान, परमात्मा का एक भाव है। परमात्मा-भगवान आत्मा का तो वह भाव है। आहाहा! विकल्प का जाल है, वह आत्मा का भाव नहीं है। आहाहा!



सहज ज्ञान,... स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक सुख, आहाहा! इत्यादि में। आदि अनन्त स्वभाव। भगवान आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त (स्वभाव है)। असंख्य से पार। अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, अनन्त गुण पड़े हैं। आहाहा! सुख आदि-अनन्त सतत-निश्चल स्थिर भाव करता है;... यदि इच्छा हो वह सतत, निश्चय चलित बिना स्थिर भाव करता है। आहाहा! गाथा तो एक-एक... आहाहा! गजब गाथा है।

**मुमुक्षु :** निर्विकल्प समाधि की अद्भुत महिमा की है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह निर्विकल्प समाधि। आहा! आहाहा! लोगों की चिल्लाहट यह कि व्यवहार है तो होता है न, व्यवहार है तो होता है न! पहले व्यवहार आता है या नहीं? आता है, परन्तु उससे नहीं होता। आहाहा! क्या हो? जिसकी पर्याय के क्रम में जो आया हो, वह आवे। आहाहा! स्थिरभाव करता है; उस हेतु से (अर्थात् उस कारण द्वारा) निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर,... उससे निश्चयसामायिक उत्पन्न होती है। सच्ची सामायिक। आहाहा! सहज निजपरमात्मा के गुण में स्थिर निश्चयसामायिक होती है। आहाहा! निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यक-क्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? आहाहा! निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यकक्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? तुझे छह आवश्यक से क्या उत्पन्न हुआ? क्या सामायिक गुण उत्पन्न हुआ? आहाहा! विकल्प उत्पन्न होता है, वह तो राग है। आहाहा! इतना तो व्यवहार का निषेध आता है, उसका शोर (करते हैं)। व्यवहार का निषेध, सोनगढ़वाले व्यवहार का निषेध करते हैं। एकान्त है, एकान्त है। करे, पुकार करो, भगवान!

निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यक-क्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ... छह आवश्यक से अनुपादेय, हेय, नापसन्द करनेयोग्य, नहीं महिमा करनेयोग्य। आहाहा! छह आवश्यक का फल तो यह है, हेय है, पसन्द करनेयोग्य नहीं है। राग है, दुःख है। आहाहा! है न? अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है। लो, आहाहा! विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)